Research Guru
Online Journal of Multidisciplinary Subjects (ISSN : 2349-266X)
Volume-13, Issue-1, June 2019
Impact Factor: 4.081
www.researchguru.net

धर्मशास्त्र में लिखित प्रमाण (साक्ष्य) का स्वरूप

दिव्या भारती
शोधार्थी छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली–११००६७

Abstract

धर्मशास्त्रकारों ने विविध प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया है जिनकी सभी विवादों में आवश्यकता होती थी, चाहे वे विवाद हिंसामूलक हो या अर्थमूलक। क्योंकि इन प्रमाणों के आधार पर ही विवादों का निर्णय लिया जाता था। विवाद के निराकरण के लिए उपस्थित प्रत्येक प्रमाण का औचित्य होता था। परन्तु प्रमाणों में लिखित प्रमाण का औचित्य अन्य प्रमाणों से अधिक था। यह प्रमाण द्विविध प्रकार का होता था जिसमें राजकीय लेख का सम्बन्ध राजा की आज्ञा एवं नियमों से होता था, जो स्वतः प्रमाणित ही होता था। जिसके कारण राजकीय लेख पर किसी भी प्रकार का सन्देह नही किया जाता था। जबकि जानपद लेख का सम्बन्ध सामान्यजन के लेखों से होता था जिसकी प्रमाणिकता हेतु साक्षियों की आवश्यकता होती थी। इन दोनों लेखों का एक प्रारुप भी निर्धारित किया गया था जिनमें इनको लिखा जाता था। वर्तमान के समान तात्कालिक समय में भी कूटलेखों का प्रचलन था। इन लेखों की जांच का कार्य प्राड्विवाक एवं अन्य न्यायिक अधिकारियों के द्वारा किया जाता था। लिखित प्रमाण की श्रेष्ठता के कारण कूट लेख को गम्भीर अपराध माना गया था जिसमें कूट लेख अपराधी को दण्डस्वरुप विवाद की हानि के साथ–साथ शारिरीक एवं आर्थिक दोनों ही प्रकार के दण्ड दिये जाते थे।

Key Word- धर्मशास्त्र, व्यवहारप्रक्रिया, प्रमाण, वादी, प्रतिवादी, साक्षी, लेखक, लिखित प्रमाण, जानपदलेख, राजकीय लेख, कूटलेख

भारतीय दर्शन में प्रमाण उसे माना गया हैं जो सत्य ज्ञान कराने में सहायता प्रदान करता है। 'प्रमा' से आशय यथार्थ ज्ञान है और इस यथार्थ ज्ञान का जो करण होता है अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रमाण कहते हैं। परन्तु धर्मशास्त्र में प्रमाण का प्रयोग ज्ञान प्राप्ति के साधन की बजाय विवादों के सन्दर्भ में किया गया है जिसमें प्रमाणों के आधार पर किसी विवाद का निर्णय लिया जाता था। ये प्रमाण उस विवाद की ज्ञान प्राप्ति से जुडे होते थे जिनके सम्बन्ध में न्यायप्रक्रिया चल रही होती थी। धर्मशास्त्रकारों ने विविध प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया है जिनकी सभी विवादों में आवश्यकता होती थी, चाहे वे विवाद हिंसामूलक हो या अर्थमूलक। क्योंकि इन प्रमाणों के आधार पर ही विवादों का निर्णय लिया जाता था। अतः दोनों पक्षों के द्वारा ही सबल प्रमाणों को उपस्थापित करने का प्रयास किया जाता था। जिस भी पक्ष के द्वारा अधिक प्रमाणिक साक्ष्यों/प्रमाणों को प्रस्तुत किया जाता था उस विवाद का निर्णय उसी के पक्ष में होता था। विवाद के निर्णय तक पहुंचने के लिए प्रमाण की भूमिका अतिमहत्वपूर्ण होती थी क्योंकि सभासद् आदि न्यायिक अधिकारियों के द्वारा इन्हीं प्रमाणों के आधार पर निर्णय लिया जाता था ।

सम्पूर्ण न्यायिक प्रक्रिया का आधार प्रमाण (साक्ष्य) होता है, जिसके आधार पर ही विवादों (व्यवहारपदों) का निर्णय लिया जाता था। विवाद के निराकरण के लिए उपस्थित प्रत्येक प्रमाण का औचित्य होता था। परन्तु प्रमाणों में लिखित प्रमाण का औचित्य अन्य प्रमाणों से अधिक था, क्योंकि मौखिक रूप से सुनी या देखी घटनाओं में दीर्घता (अर्थात् विवाद के निराकरण में लगने वाला लम्बा समय) से विस्मरण, भ्रान्तियां एवं विभिन्नताएं प्रविष्ट कर जाती है। जिससे परस्पर कथनों में विसंगतियों के उपस्थित होने से उन कथनों की महत्ता कम या

बिलकुल नही के बराबर हो जाती है। अतः इन विसंगतियों से बचने के लिए लिखित प्रमाण को श्रेष्ट माना गया था क्योंकि उचित रूप में लिखा गया लिखित प्रमाण सभी भ्रान्तियों एवं विसंगतियों से परे होता है। इसलिए शुक्रनीति में कहा गया है कि भुलना मनुष्य का स्वभाव है और किसी प्रकार के भ्रम की उत्पत्ति न हो इसके लिए लेख बहुत बडा प्रमाण होता है।[1]

- **लिखित प्रमाण–**

किसी विषय पर उसकी प्रमाणिकता के लिए उस विषय का लिखित विवरण ही लिखित प्रमाण माना जाता था। लिखित प्रमाण को अन्य भुक्ति, साक्षी आदि मानुषी प्रमाणों से अधिक श्रेष्ठ माना गया था, क्योंकि साक्षी प्रमाण की प्रामाणिकता साक्षी के जीवित रहने तक ही बनी रहती थी और भुक्ति प्रमाण के लिए अधिक समय तक का भोग होना आवश्यक होता था।[2] नारद ने लिखित प्रमाण को चक्षुस्वरूप माना है[3] क्योंकि लिखित प्रमाण का चक्षु द्वारा दर्शन होता है। लिखित प्रमाण का स्पष्टतः चक्षु के माध्यम से दृष्टव्य होने से यह देश, काल, फल, द्रव्य, प्रमाण और सीमा आदि से संबंधित निर्णयों में होने वाले संदेहों का विनाश करने वाला होता था।[4] जिससे व्यवहारपद का शीघ्र निर्णय हो जाता था। जो लिखित प्रमाण को अन्य प्रमाणों से अधिक प्रमाणित बना देता था। अतः इस लिखित प्रमाण के माध्यम से समाज कल्याण गति को प्राप्त करता था।[5] भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 59 में दस्तावेजी साक्ष्य को सर्वाधिक प्रमाणिक मानते हुए कहा गया है कि– दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के सिवाए सभी तथ्य मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित किये जा सकेंगे। साक्ष्य विधि का यह महत्वपूर्ण सिद्धांत है कि प्रत्येक मामले में सर्वोत्तम साक्ष्य दिया जाये और दस्तावेज सर्वोत्तम साक्ष्य माने जाते है अर्थात जहां कोई लिखित दस्तावेज के रूप में होता है वहां उसे दस्तावेज के रूप में साबित किया जाता है लेकिन कुछ परिस्थितियों में जहां दस्तावेज उपलब्ध नही है, मौखिक साक्ष्य आवश्यक हो जाता है।[6]

१ लिखित प्रमाण के भेद–

लिखित प्रमाण के भेदों के विषय में धर्मसूत्रकारों एवं स्मृतिकारों में एकमत नही था। विष्णु धर्मसूत्र ने लिखित प्रमाण के तीन भेद बतलाये है[7]–१. राजसाक्षिक, २. ससाक्षिक, ३. असाक्षिक अर्थात् राजसाक्षिक वह लेख वह होता था जिसे राजा द्वारा नियुक्त लिपिक के द्वारा राजकीय आदेश पर लिपिबद्ध किया जाता था और यह प्राड्विवाक द्वारा हस्ताक्षरित होता था,[8] ससाक्षिक वह लेख होता था जिसे साक्षियों के द्वारा हस्ताक्षरित किया जाता था चाहे वह लेख किसी के द्वारा कहीं पर भी लिखा गया हो,[9] तथा असाक्षिक वह लेख होता था जिसे बिना साक्षी के हस्ताक्षर के स्वयं के द्वारा लिखा जाता था।[10] विष्णु धर्मसूत्र के समान ही विष्णुस्मृति में भी लेख्य के तीन भेद[11]– राजसाक्षिक, ससाक्षिक तथा असाक्षिक माने हैं। बृहस्पति ने भी लिखित के तीन भेद माने हैं[12] यथा– राजलेख्य (राजा द्वारा प्रमाणित), स्थानकृत (किसी निश्चित स्थान पर लिखित साक्षीयुक्त लेख) तथा स्वहस्तलिखित (स्वयं के द्वारा लिखित साक्षीरहित लेख) ।

नारद ने लिखित प्रमाण के दो भेद किये हैं[13]– १. स्वहस्त लिखित, जो स्वयं के द्वारा लिखित होता था और जिसमें साक्षी की आवश्यकता नहीं होती थी तथा २. अन्यहस्त लिखित, जो किसी अन्य के द्वारा लिखित होता था और जिसमें साक्षी की आवश्यकता होती थी। मिताक्षरा ने भी लिखित प्रमाण के दो भेद माने हैं– शासन और चीरक (जानपद)[14] अर्थात् शासन लेख्य अर्थी एवं प्रत्यर्थी द्वारा राजा के सम्मुख लिखा जाता था और यह लेख्य सुन्दर संस्कृत भाषा में लिखा जाता था तथा इसका संबंध भाषापाद और उत्तरपाद से होता था। जानपद लेख्य स्वयं के द्वारा लिखित होता था और यह संस्कृत या फिर स्थानीय भाषा में भी लिखा जा सकता था।[15] यह (जानपद लेख्य) दो प्रकार का होता था[16]– स्वहस्त लिखित तथा परहस्त लिखित अर्थात् स्वहस्त लिखित साक्षी रहित तथा परहस्त लिखित साक्षी युक्त होता था ।

शुक्रनीति ने भी मिताक्षरा के समान लिखित के दो भेद किये हैं– राजकीय और लौकिक। ये दोनों लेख ही स्वहस्त लिखित एवं परहस्त लिखित के भेद से दो प्रकार के होते थे। साथ ही ये लेख साक्षी सहित एवं साक्षी रहित भी होते थे।[17] राजकीय लेख्य के तीन भेद किये गये थे–

शासनार्थ अर्थात् शासन के लिए, ज्ञापनार्थ अर्थात् सूचना देने के लिए तथा निर्णयार्थ अर्थात् निर्णय देने के लिए। लौकिक लेख्य के सात भेद माने गये थे– भाग, दान, आचार, न्यास, प्रतिज्ञा, सेवा एवं ऋण।[18] इन राजकीय एवं लौकिक लेखों को ही वर्तमान भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा ७४ एवं ७५ में क्रमशः लोक दस्तावेज एवं प्राइवेट दस्तावेज कहा गया है।[19]

१.१ राजकीय (शासन) लेख–

राजा के सम्मुख नियुक्त लिपिक के द्वारा लिखित एवं प्राड्विवाक द्वारा प्रमाणित लेख को राजकीय लेख कहा जाता था। शुक्रनीति के अनुसार जिस लेख पर राजा का हस्ताक्षर हो या राजमुद्रा अंकित हो या राजा के आदेशानुसार मंत्रियों की मोहर लगी हो उसे राजकीय लेख कहा जाता है।[20] कौटिल्य के मतानुसार राजा द्वारा पत्र आदि पर लिखित आज्ञा या प्रतिज्ञा को शासन कहा जाता है, क्योंकि राजा शासन (लिखित बात) पर ही विश्वास करते हैं न कि मौखिक बातों पर।[21] कौटिल्य ने शासन लेख के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यदि राजकीय लेख किसी राजा से संबंधित होता है तो उसमें देश, एश्वर्य, वंश और नाम का उल्लेख होना आवश्यक है।[22] और यदि लेख का संबंध किसी अमात्य से है तो उसमें केवल उसके देश और नाम का ही उल्लेख होना चाहिए।[23] और यदि लेख किसी राजकार्य से संबंध रखता है तो उसमें जाति, कुल, स्थान, आयु, योग्यता, कार्य, धनसम्पत्ति, सदाचार, देश, काल, वैवाहिक संबंध आदि बातों का भलीभांति विचार करके, प्राप्तकर्त्ता पुरुष की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता का भी उल्लेख करना चाहिए।[24]

वशिष्ठ ने राजकीय लेख प्रमाण के चार प्रकार माने है[25]–(१) शासन– राजकीय भूमि अर्थात् राजप्रदत्त भूमि का ब्यौरा, (२) जयपत्र– किसी मुकदमें की जीत का फैसला, (३) आज्ञापत्र– सामन्तों तथा अन्य कर्मचारियों को दी गई आज्ञाएं, (४) प्रज्ञापनापत्र– यज्ञ करने वालों, पुरोहितों, गुरु, वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा अन्य श्रद्धास्पद लोगों के लिए लिखित प्रार्थना। कौटिल्य ने आठ राजाज्ञाओं के नामों का उल्लेख किया हैं यथा– प्रज्ञापना, आज्ञापत्र, परिदान, परिहार, निसृष्टिलेख, प्रावृत्तिक, प्रतिलेख तथा सर्वत्रग।[26] जिनकी व्याख्या इस प्रकार है–

इस प्रकार शासन लेख का सम्बन्ध राजा से होता था जिसमें राजा के आदेशों एवं प्रतिज्ञाओं को लिखितरूप दिया जाता था। इन आदेशों एवं प्रतिज्ञाओं को लिखितरूप देने का कार्य नियुक्त लिपिक के द्वारा किया जाता था। शासनलेख में साक्षीगण की आवश्यकता नही होती थी, यह लेख प्रत्येक परिस्थितियों में बिना साक्षीगण के प्रमाणिक होता था। इस लेख पर किसी भी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता था क्योंकि शासनलेख को राजमुद्रा से चिन्हित किया जाता था जो सभी संशयों को निराकरण करता था ।

१.२ जानपद लेख–

जानपद लेख अर्थात् निजी तौर से लिखा गया प्रमाणपत्र होता था। जानपद दो कोटि के होते थे– चिरक और चिरकहीन। चिरक वह प्रमाणपत्र होता था जिसे पुश्तैनी लिपिक द्वारा लिखा जाता था इन पुश्तैनी लिपिकों के पास दोनों पक्षों के लोग साक्षियों, पिताओं आदि के हस्ताक्षर के साथ पहुंचते थे।[27] जानपद प्रमाण देश एवं स्थिति के अनुसार साक्षीयुक्त एवं साक्षिरहित भी होता था।[28] चिरक एवं चीरक दोनों ही प्रकार के लेख प्रमाणों का प्रयोग कुछ ग्रन्थों में हुआ है जिसके प्रति पी.वी. काणे का मत है कि चिरक/चीरक भोजपत्र या किसी वृक्ष की छाल पर लिखा जाता था। चिरक शब्द "चिर" से बना है जो राजा द्वारा नियुक्त लिपिकों द्वारा लिखित होता था तथा चिरकाल तक चलता था।[29]

जानपद लेख के भेद– बृहस्पति के अनुसार जानपद के आठ प्रकार हैं[30]– भाग या विभागपत्र (बंटवारे का लेखप्रमाण), दानपत्र, क्रयपत्र, आधानपत्र (बंधकपत्र), स्थितिपत्र या संवित्पत्र (किसी ग्राम, श्रेणी, पूग आदि के सदस्यों द्वारा निर्णीत परम्पराओं का लेखप्रमाण), दासपत्र (भोजन–वस्त्र के अभाव में गुलामी करने का लेखप्रमाण), ऋणपत्र या उद्धारपत्र (ब्याज के साथ भविष्य में किसी तिथि पर लौटा देने वाले ऋण का लेख) तथा सीमापत्र। व्यास ने जानपद के आठ प्रकार

बताये हैं–[31] चिरक, उपगत (रसीद), स्वहस्त (अपने हस्त से लिखित पत्र), आधिपत्र, क्रयपत्र, स्थितिपत्र, सन्धिपत्र तथा विशुद्धिपत्र। कात्यायन[32] ने ४ प्रकार के जानपद लेखों– स्थितिपत्र, सन्धिपत्र, सीमापत्र, विशुद्धिपत्र को स्वीकार किया है। शुक्रनीति ने भी अनेक जानपद लेखों का उल्लेख किया है– भोगपत्र, करदीकृत, उपायनीकृत, पुरुषावधिक, कालावधिक, भागपत्र, धर्मपत्र, क्रयपत्र, सादिलेख, संवित्लेख, ऋणपत्र, शुद्धिपत्र, सामयिकपत्र, सम्मितसंज्ञक, भाषा या वेदनार्थक पत्र।[33] मिताक्षरा ने जानपद लेख के दो भेद माने है– स्वहस्तकृत और अन्यहस्तकृत। ये दोनों लेख्य लिपि, अक्षरादि के लोप संबंधी त्रुटियों से हीन हो और जरूरी नहीं है कि इसमें साधु शब्दों का प्रयोग किया जाये, ये दोनों लेख्य देश–भेद से स्थानीय भाषा में भी लिखित हो सकते थे।[34]

इस प्रकार जानपद लेख का सम्बन्ध सामान्य जनमानस के लेखपत्र से होता था। यह लेख पुश्तैनी लिपिक द्वारा लिखा जाता था या फिर यह स्वहस्तलिखित भी हो सकता था। जिस जानपद लेख को लिपिक द्वारा लिखा जाता था उसमें साक्षियों की आवश्यकता होती थी और जो जानपद लेख स्वहस्तकृत होता था उसमें सम्बन्धित पक्ष ही एक मात्र साक्षी होता था अर्थात् स्वहस्तकृत जानपद लेख को साक्षी की आवश्यकता नही होती थी। जानपद लेख को लिखितरूप देते समय सम्बन्धित पक्षों के विवरणों के साथ शुद्धता का भी ध्यान रखा जाता था। इस लेख की प्रमाणिकता के लिये साक्षियों पर निर्भर होना पडता था, बिना साक्षियों के इस लेख पर सन्देह उपस्थित हो जाता था। इसलिये उसी जानपद लेख को प्रमाणिक माना जाता था, जो श्रेष्ठ/गुणवान् साक्षियों से युक्त होता था।

- **लिखित प्रमाण का स्वरूप–**

लिखित प्रमाण के स्वरूप से तात्पर्य उन नियमों से होता था जिनका पालन किसी भी लेन–देनादि विषयों को लिखित रूप देते समय किया जाता था। लिखित प्रमाण का स्वरूप कैसा होना चाहिए? इस पर विस्तृत चर्चा याज्ञवल्क्यस्मृति ने की है। जो इस प्रकार है–

१. सर्वप्रथम लेख में ऋणदाता और ऋणी के मध्य ऋण के लेन–देन में तय हुई बात, जैसे– देय ऋण की मात्रा, ब्याज की दर, ऋण को लौटाने की समयावधि आदि को साक्षी सहित उल्लिखित करना चाहिए एवं इसी में ऋणी एवं ऋणदाता का नाम एवं पतादि भी लिखना चाहिए।[35]

२. उसी लेख्य में ऋण देने एवं लौटाने के मास, पक्ष, तिथि, ऋणी एवं ऋणदाता की जाति–गोत्र–उपाधि–पिता का नाम भी लिखना चाहिए।[36]

३. लेख में पूर्वोक्त सारी बातों को लिखने के उपरान्त ऋणी द्वारा लेख में लिखित बातों को स्वीकार करते हुए, लेख के अन्त में यह लिखे कि– 'मुझे अमुक के पुत्र का उक्त लेख सम्मत है'। तदनन्तर ऋणी अपना पहचान चिन्ह हस्ताक्षर या अगूठे का निशान लगा दें।[37]

४. पूर्वोक्त लेख में जितने साक्षी हैं वे भी अपना एवं अपने पिता का नाम लिखे, साथ ही 'मै अमुक का साक्षी हूं' यह लिखकर हस्ताक्षर करें। यदि ऋणी अथवा साक्षी अलिपिज्ञ (असाक्षर) हो तो ऋणी अथवा साक्षी को अपना अभिमत क्रमशः किसी अन्य व्यक्ति अथवा किसी अन्य साक्षी के द्वारा सभी उपस्थित जनों के सम्मुख लिखवा दें। इन साक्षियों की संख्या सम में होनी चाहिए।[38]

५. तदनन्तर लेख के अन्त में लेखक लिखें कि 'अमुक के पुत्र ऋणदाता एवं ऋणी दोनों के कथनानुसार मैंने यह लिख दिया है'।[39]

इस प्रकार किसी भी लिखित प्रमाण की वैधानिकता तभी होती थी, जब वह इन औपचारिकताओं को पूरा करता था। ये औपचारिकताएं लिखित प्रमाण को पूर्णता प्रदान करती थी। इन लिखित विषयों में साक्षी का होना आवश्यक होता था, क्योंकि इन कार्यों में ऋणदाता के द्वारा जो कार्य किया जाता था उस कार्य की सिद्धि के लिए साक्षियों की प्रवृत्ति होती थी। यदि कभी इन विषयों को लेकर भविष्य में कोई विवाद होता था तो उन विषयगत साक्षियों के आधार पर विवाद का निर्णय हो सकता था, जिससे उस लेख की प्रमाणिकता भी बनी रहती

थी। परन्तु इसी प्रकार के लेखपत्र में जाति, संज्ञा, निवासस्थान, वस्तु, संख्या, वर्ष, मास, पक्ष, दिन आदि का भी स्पष्ट उल्लेख होना आवश्यक था। इस प्रकार के स्वरूप से युक्त साक्ष्य को मूल लिखित साक्ष्य माना जाता था जिसे आज की साक्ष्य अधिनियम में प्राथमिक साक्ष्य कहा गया है।

- **लिखित प्रमाण की प्रमाणिकता/अप्रमाणिकता–**

किसी भी व्यवहार को लिखित रूप देते समय यदि लिखित प्रमाण के नियमों का सुसंगतढंग से पालन नहीं किया गया हो और यदि लेख्य को अनुचितरूप से लिखा या लिखवाया गया हो तो उस लेख को अप्रमाणिक माना जाता था और जो वैधानिक रूप से मान्य नही होता था। अतः यह आवश्यक होता था कि किसी विषय की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए उस विषय को लिखित रूप देते समय समस्त लेख्य नियमों का पालन किया जाये ताकि वह विषय यदि व्यवहारप्रक्रिया (न्यायिक प्रक्रिया) में उपस्थित हो तो वह स्वयं की प्रमाणिकता को सिद्ध कर सकें। लेख की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता संबंधी नियम इस प्रकार है–

➢ निम्नोक्त लेख अभियोग में प्रमाणिक–

१. जो लेख बिना किसी बल, भय एवं छलकपट आदि के स्वयं के द्वारा लिखित हो तो उस लेख की प्रमाणिकता साक्षी के बिना भी होती थी।[40]

२. जो लेख देश की मर्यादा का उल्लंघन न करता हो, आधि के नियमानुसार हो अर्थात् जिस लेख में व्यक्ति विशेष अपने स्वत्व या अधिकार को प्रकट करता हो, नियमानुसार क्रमबद्ध लिखित हो तथा लेख में उल्लिखित विषय को अस्त–व्यस्त करके न लिखा हो तो ऐसा लेख प्रमाणिक होता था।[41]

३. जो लेख किसी अवसर पर लोगों द्वारा देखा गया हो या ऋणी को बतलाया गया हो तो उस लेख की प्रमाणिकता लेख सम्बद्ध साक्षी के मरने के बाद भी बनी रहती थी।[42]

४. जिस पितृकृत लेख को ऋणग्रहीता के पुत्रों या उत्तराधिकारियों द्वारा न देखा गया हो और न सुना गया हो तो ऐसा लेख केवल लेख सम्बद्ध साक्षी के जीवनकाल तक ही प्रमाणिक होता था।[43]

५. कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक लेख में ६ गुणों का होना आवश्यक है। यथा– अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य एवं स्पष्टता। (अर्थक्रम– प्रधान अर्थ और अप्रधान अर्थ पूर्वापर यथाक्रम में रखना ही अर्थक्रम है। सम्बन्ध– लेख की समाप्ति पर्यन्त अगला अर्थ, प्रस्तुत अर्थ का बाधक न होने पर अर्थसंबंध है। परिपूर्णता– अर्थपद तथा अक्षरों का न्यूनाधिक्य न होना, हेतु, उदाहरण तथा दृष्टान्त सहित अर्थ का निरुपण करना, प्रभावहीन शब्दों का प्रयोग न करना आदि परिपूर्णता है। माधुर्य– सरल सुबोध शब्द का प्रयोग करना माधुर्य है। औदार्य– शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना औदार्य है। स्पष्टता– सुप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग करना स्पष्टता है।)

साथ ही लेख की प्रमाणिकता में लेखक का मुख्य योगदान होता था, इसलिए लेखक को आचार–विचारों का ज्ञाता, शीघ्र वाक्यों की रचना करने वाला और शान्त चित्त वाला होना आवश्यक था। क्योंकि इस प्रकार के गुणों से युक्त लेखक द्वारा लिखित लेख में लेखन संबंधी सभी प्रतिबन्धों का सहजभाव से पालन किया जाता था।[44] भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी बदलती परिस्थितियों के अनुसार हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए लेखों की प्रमाणिकता से सम्बन्धी प्रावधान का विवरण धारा ७६ से धारा ६० तक किया गया है।

➢ निम्नोक्त लेख अभियोग में अप्रमाणिक–

वह लेख जो लिखित प्रमाण के उल्लेखित नियमों के अनुसार न हो या लेख क्रमबद्धढंग से न लिखा गया हो या मूल अर्थ की बजाय अन्य अर्थ को बतलाने वाला हो या भिन्न–भिन्न अर्थ को बतलाने वाला हो या निरर्थक हो या कालान्तर में लिखा गया हो तो उस लेख को अप्रमाणिक माना जाता था।[45]

१. जिस लेख को मत्त, आश्रित, अभियुक्त, बिमार, स्त्री, पागल, बालक आदि के द्वारा बल–भय–छलकपटपूर्वक लिखवाया गया हो तो उस लेख को प्रमाणिक नहीं माना जाता था अर्थात् जिस भी लेख को बलपूर्वक या छलकपट से या साक्षी को रिसवत देकर या किसी अन्य अनुचित माध्यम से लिखवाया जाता था तो उस लेख को प्रमाण्य नही माना जाता था।[46]

अपवाद– बृहस्पति के अनुसार उन्मत्त, जड, बालक एवं प्रवासी आदि का लेख दीर्घकाल तक हानि को प्राप्त नही करता है। उस लेख की प्रमाणिकता दीर्घकाल तक बनी रहती थी।[47]

२. वह लेख जो आधि अर्थात् स्वत्व के अधिकार से रहित हो और जिस लेख को साक्षी, ऋणदाता एवं ऋणी की मृत्यु के उपरान्त लिखा गया हो तो वह लिखित प्रमाण होते हुए भी अप्रमाणिक होता था।[48]

३. जिस लेख को न कभी देखा हो या न कभी सुना हो उस लेख को साक्षी की उपस्थिति में भी प्रमाणिक नहीं माना जाता था।[49]

४. जिस लेख्य के ऋणदाता, ऋणी, साक्षी एवं लेखक सभी मृत्यु को प्राप्त हो गये हो और ऋण बन्धक अथवा भोग से भी सिद्ध न होता हो तो वह लेख्य स्वीकार करने योग्य नही होता था । ऐसे लेख्य की कोई उपयोगिता नही होती थी।[50]

५. कौटिल्य ने निम्न दोषों से युक्त लेख को अप्रमाणिक माना है, यथा–

- अक्रान्ति– स्वच्छतारहित अर्थात् स्याही पडे या मलिन कागज पर लिखना, भद्दे अक्षर में लिखना, छोटे–बडे अक्षर में लिखना या फीकी स्याही में लिखना अक्रान्ति दोष है ।
- व्याघात– परवर्ती कथनों(लेख) का पूर्ववर्ती कथनों (लेख) से विरोध अर्थात् परस्पर कथनों में सम्बन्ध का अभाव ही व्याघात दोष है।
- पुनरुक्त– कथनों का पुनः पुनः प्रयोग पुनरुक्त दोष है।
- अपशब्द– लिंग, वचन,काल और कारक का व्यवहार विपरीत प्रयोग करना अपशब्द दोष है।
- सम्प्लव– लेख में विराम आदि चिन्हों की, अर्थक्रम के अनुसार योजना न करना या अनुचित प्रयोग करना ही सम्प्लव दोष है ।[51]

इस प्रकार किसी भी व्यवहार को लिखित रुप देते समय लिखितप्रमाण के स्वरुपगत नियमों का समुचितढंग से पालन किया जाता था। जिस भी लेख में इन नियमों का पालन नही किया जाता था उस लेख पर सन्देह उपस्थित हो जाता था जो उस लेख की प्रमाणिकता को भी सन्देहास्पद बना देता था। इसलिये लेख की प्रमाणिकता हेतु निर्धारित नियमों जैसे– अर्थक्रम, संबंध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टता आदि का सुनिश्चितढंग से पालन किया जाना अत्यावश्यक होता था। जिन लेखों में इन नियमों के विपरीत दोषों जैसे– अक्रान्ति, व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द तथा सम्प्लव आदि का समावेश होता था उन लेखों को अप्रमाणिक माना जाता था। ये लेखगत गुण एवं दोष लेखन के व्यवहार पर निर्भर करते थे अर्थात् किस प्रकार से विषय को लेखपत्र पर लिखा गया है। इन लेखगत गुण एवं दोषों के अतिरिक्त, सम्बन्धित पक्षों के शारिरीक एवं मानसिक व्यापार को भी लिखित प्रमाण की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता में आधार माना गया था। अर्थात जिस लेख को मानसिक रुप से अवयस्क बालक, पागल, मत्त, आश्रित, स्त्री एवं अन्यजनों से बलपूर्वक, डरा–धमकाकर, रिश्वत देकर लिखवाया जाता था तो उस लेख को भी अप्रमाणिक माना जाता था। साथ ही लेख की प्रमाणिकता के लिये लेख के सम्बन्धित पक्षों जैसे– वादी, प्रतिवादी, साक्षी, लेखक आदि का भी जीवित होना आवश्यक होता था क्योंकि ये लोग लेख से सम्बन्धित सभी संशयों का समाधान करते थे। इस प्रकार विस्तृत रुप में लिखित प्रमाण के स्वरुप को वर्णित करते हुए धर्मशास्त्रकारों ने इसके औचित्य एवं श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।

- **जाली लेख पर दण्ड–**

धर्मसूत्र एवं स्मृतिकाल में जाली लेखों का प्रचलन था। लिखित प्रमाण अन्य सभी प्रमाणों अधिक श्रेष्ट माना जाता था इसलिए लेख से किसी भी प्रकार की छेडकानी अपराध मानी जाती थी। कात्यायन ने जाली लेख की तुलना दर्पण से करते हुए कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में देखने पर व्यक्ति को स्वयं के समान दर्पण में वास्तविक आकृति दृष्टिगत होती है उसी प्रकार जाली बना हुआ लेख वास्तविक लेख के समान ही दिखाई पडता है।[52] नारद के अनुसार कुछ व्यक्ति स्वार्थवश लोभ के कारण इस प्रकार के जाली लेखन का कार्य करते है। अतः राजा को ऐसे लेखों की जांच विभिन्न मानदण्डों पर करनी चाहिए। इससे (जाली लेखों के प्रचलन से) लेख की प्रमाणिकता पर सन्देह उपस्थित हो जाता था।[53] जिससे लेख्य की जांच करना प्राड्विवाकों एवं अन्य न्यायकर्त्ताओं के लिए दुष्कर हो जाता था।[54] ऐसी स्थिति में लेख्य पत्र की संन्दिग्धता की जांच निम्न तरीके से की जाती थी– दोनों पत्रों में अक्षरों की बनावट में समानता हैं कि नहीं। यदि दोनों पत्रों के अक्षर समान है तो उस सन्दिग्ध पत्र को शुद्ध मानना जाता था और साथ ही अन्य संशय निवारण हेतुओं जैसे उस देश काल में उन पुरुषों के साथ ऋण का संबंध, उस लेख्य पत्र के बारे में साक्षी का कथन एवं लेखक के चिन्हादि का ज्ञान, ऋणदाता एवं ऋणी में लेन देन का संबंध, ऋणदाता द्वारा लेख्य में उल्लेखित ऋणराशि की प्राप्ति का संभावित उपाय, ऋणदाता ने जितने ऋण का उल्लेख किया है उतना ऋण देने के वह समर्थ है या नही इत्यादि के द्वारा संशय को दूर किया जाता था।[55]

निष्कर्षतः

इस प्रकार लिखित प्रमाण के विस्तृत विवेचन के उपरान्त यह विचार सामने आता है कि तात्कालिक समय में लिखित प्रमाण को अन्य मानुषी प्रमाणों से अधिक श्रेष्ठ प्रमाण माना गया था। इसका कारण यह था कि लिखित प्रमाण में जब किसी विषय को न्यायोचितढंग से लिखित रुप दिया जाता था तब उसमें समय की दीर्घता से उत्पन्न होने वाली मानसिक शिथिलता से जनित दोषों (विस्मरण, भ्रान्ति, विरोधीमत) का समावेश नही हो पाता था। साथ ही यह प्रमाण चक्षु के माध्यम से प्रत्यक्षतः दृष्टव्य होने पर समस्त सन्देहों का नाश करने वाला भी होता था। जो लिखित प्रमाण को अन्य प्रमाणों से श्रेष्ठता प्रदान करता था। यह प्रमाण द्विविध प्रकार का होता था जिसमें राजकीय लेख का सम्बन्ध राजा की आज्ञा एवं नियमों से होता था, जो स्वतः प्रमाणित ही होता था क्योंकि उसमें प्रमाणस्वरुप राजमुद्रा अंकित होती थी। जिसके कारण राजकीय लेख पर किसी भी प्रकार का सन्देह नही किया जाता था। जबकि जानपद लेख का सम्बन्ध सामान्यजन के लेखों से होता था जिसकी प्रमाणिकता हेतु साक्षियों की आवश्यकता होती थी। इन दोनों लेखों का एक प्रारुप भी निर्धारित किया गया था जिनमें इनको लिखा जाता था। इन प्रारुपों का अनुसरण करना आवश्यक था अन्यथा उस लेख को अप्रमाणिक घोषित कर दिया जाता था। लेख की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता हेतु कुछ नियमों का भी निर्धारण किया गया था और साथ उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया गया था जो लेख में समय की दीर्घतावश प्रवेश कर जाती थी जैसे लेख का छिन्न–भिन्न होना, जल जाना, खो जाना आदि। इन परिस्थितिविशेष में किन नियमों का पालन किया चाहिये कि लेख पुनः अपनी प्रमाणिकता को सिद्ध कर सके आदि बातों पर भी धर्मशास्त्रकारों के द्वारा विस्तार से मत रखा गया था। वर्तमान के समान तात्कालिक समय में भी कूटलेखों का प्रचलन था। इन लेखों की जांच का कार्य प्राड्विवाक एवं अन्य न्यायिक अधिकारियों के द्वारा किया जाता था। लिखित प्रमाण की श्रेष्ठता के कारण कूट लेख को गम्भीर अपराध माना गया था जिसमें कूट लेख अपराधी को दण्डस्वरुप विवाद की हानि के साथ–साथ शारिरीक एवं आर्थिक दोनों ही प्रकार के दण्ड दिये जाते थे। यहां तक की जाली लेख के अभियुक्त को मृत्युदण्ड तक दिया जाता था जो लिखित प्रमाण की श्रेष्ठता, औचित्य एवं महत्ता को प्रकट करता था।

[1] भ्रान्तेः पुरुषधर्म्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम्। अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत् करोति यः॥ शुक्रनीति २/२६१

[2] विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु। विशेषतः स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत्स्थिरम्॥ नारदस्मृति ४/७५

[3] लिखितं चक्षुरोतमम्॥ नारदस्मृति ४/७०

[4] देशकालफलद्रव्यप्रमाणवधिनिश्चये। सर्वसन्देहविच्छेदि लिखितं चक्षुरुत्तमम् ॥ नारदस्मृति ४/७१

[5] तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः॥ नारदस्मृति ४/७०

[6] भारतीय साक्ष्य अधिनियम धारा ५६

[7] अथ लेख्यं त्रिविधम्। राजसाक्षिकं ससाक्षिकमसाक्षिकं च। विष्णु धर्मसूत्र ७/१–२

[8] राजाधिकरणे तन्नियुक्तकायस्थकृतं तदध्यक्षकरचिन्हितं राजसाक्षिकम्। विष्णु धर्मसूत्र ७/३

[9] यत्र क्वचन येन केनचिल्लिखितं साक्षिभिः स्वहस्तचिन्हितं ससाक्षिकम्। विष्णु धर्मसूत्र ७/४

[10] स्वहस्तलिखितमसाक्षिकम्। विष्णु धर्मसूत्र ७/५

[11] अथ लेख्यं त्रिविधं राजसाक्षिकं ससाक्षिकमसाक्षिकं च....स्वहस्तलिखितमसाक्षिकम् ॥ विष्णुस्मृति ७/१–५

[12] राजलेख्यं स्थानकृतं स्वहस्तलिखितं तथा। लेख्यं तु त्रिविधं प्रोक्तं भिन्नं तद्बहुधा पुनः॥ बृहस्पतिस्मृति, उद्धृत धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३६३

[13] लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्तान्यकृतं यथा। नारदस्मृति ४/१३५

[14] तत्र लेख्यं द्विविधं शासनं जानपदं चेति। शासनं निरूपितम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/८४ मिताक्षरा

[15] तच्चैतस्वहस्तकृतं परहस्तकृतं, परहस्तकृतं च यल्लेख्यं देशाचारानुसारेण सबन्धकव्यवहारेऽबन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुनः साधुशब्दैरेव, प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/८६ मिताक्षरा

[16] जानपदमभिधीयते। तच्च द्विविधम् स्वहस्तकृतमन्यकृतं चेति। स्वहस्तकृतमसाक्षिकं अन्यकृतं ससाक्षिकम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/८४ मिताक्षरा

[17] राजकीयं लौकिकञ्च द्विविधं लिखितं स्मृतम्। स्वहस्तलिखितं वान्यहस्तेनापि विलेखितम्। असाक्षिमत् साक्षीमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः ॥ शुक्रनीति ४/५/१७३

[18] भागदानक्रियादानसंविद्दानऋणादिभिः। सप्तधा लौकिकं चैतत् त्रिविधं राजशासनम्। शासनार्थं ज्ञापनार्थं निर्णयार्थं तृतीयकम् ॥ शुक्रनीति ४/५/१७४

[19] भारतीय साक्ष्य अधिनियम, धारा ७४, ७५

[20] राज्ञा स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिन्हितं तथा। राजकीयं स्मृतं लेख्यं प्रकृतिभिश्च मुद्रितम् ॥ शुक्रनीति ४/५/१७७

[21] शासने शासनमित्याचक्षते। शासनप्रधाना हि राजानः॥ कौटिल्य २/प्रकरण २६/अध्याय १०/शासनाधिकार

[22] तस्मादमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखनवाचनसमर्थो लेखकः स्यात् ॥ कौटिल्य २/प्रकरण २६/अध्याय १०/शासनाधिकार

[23] सोअव्यग्रमना राज्ञः संदेशं श्रुत्वा निश्चितार्थं लेखं विदध्यात्देशाइश्वर्यवंशनामधेयोपचारमीश्वरस्य, देशनामधेयोपचारमनीश्वरस्य ॥ कौटिल्य २/प्रकरण २६/अध्याय १०/शासनाधिकार

[24]जातिं कुलं स्थानवयःश्रुतानि कर्मर्द्धिशीलान्यथ देशकालौ। यौनानुबन्धं च समीक्ष्य कार्ये लेखं विदध्यात्पुरुषानुरूपम् ॥ कौटिल्य २/प्रकरण २६/अध्याय १०/शासनाधिकार

[25] शासनं प्रथमं ज्ञेयं जयपत्रं तथाऽपरम्। आज्ञाप्रज्ञापनापत्रं राजकीयं चतुर्विधम् ॥ वशिष्ट धर्मसूत्र, व्यवहारमयूख पृ.२८, एवं स्मृतिचन्द्रिका २, पृ.५५

[26] प्रज्ञापनाज्ञापरिदानलेखास्तथा परीहारनिसृष्टिलेखौ। प्रावृतिकश्च प्रति लेख एव सर्वत्रगश्चेति हि शासनानि॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/अध्याय १०/शासनाधिकार

[27] चिरकं नाम लिखितं पुराणैः पौरलेखकैः। अर्थिप्रत्यर्थिनिर्दिष्टैः यथासंभवसंस्तुतैः ॥
स्वकीयैः पितृनामाद्यैरर्थिप्रत्यर्थिसाक्षिणाम्। प्रतिनामभिराक्रान्तमर्थिसाक्षिस्वहस्तवत्। स्पष्टावगमसंयुक्तं यथास्मृत्युक्तलक्षणम् । स्मृतिचन्द्रिका २ पृ.५६

[28] असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः ॥ नारदस्मृति ४/१३५

[29] धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, पृ. ७२६

[30] भागदानक्रयाधानसंविद्दासऋणादिभिः। सप्तधा लौकिकं लेख्यं त्रिविधं राजशासनम् ॥ बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, पृ.१३६, व्यवहारकाण्ड ६/५

[31] चिरकं च स्वहस्तं च तथोपगतसंज्ञितम्। आधिपत्रं चतुर्थं च पचमं क्रयपत्रं ॥
षष्ठंतु स्थितिपत्राख्यं सप्तमं संविपत्रकम् ॥ विशुद्धिपत्रकं चैवमष्टधालौकिकं स्मृतम् ॥ व्यासस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, पृ. १३५

[32] कात्यायनस्मृति २५४–२५७

[33] शुक्रनीति ४/५/३०४–३१५

[34] तच्चैतत्स्वहस्तकृतं, कृतं च यल्लेख्यं देशाचारानुसारेण सबन्धकव्यवहारेऽबन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुनः साधुशब्दैरेव, प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/८६ मिताक्षरा

[35] यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम्। लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन् धनिकपूर्वकम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८४

काल निवश्य राजान निवसति तथा। दायकं ग्राहकं चैव पितृनाम्ना च संयुतम् ॥ वशिष्ठस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ. १३३

[36] समामासतदर्धाहर्नामजातिस्वगोत्रकैः। सब्रह्मचारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८५

[37] समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत्। मतं मेंऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८६

[38] साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम्। अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समाः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८७

[39] उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना। लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८८

[40] विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत्। तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं बलोपधिकृतादृते ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८६

[41] देशाचाराविरुद्धं यद्वयक्ताधिकृतलक्षणम्। तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरम् ॥ नारदस्मृति ४/१३६

देशाचाराविरूद्धं व्यक्ताधिकृतलक्षणमलुप्तक्रमाक्षरं प्रमाणम् ॥ विष्णुधर्मसूत्र ७/११

[42] दर्शितं प्रतिकालं यत् प्रार्थितं श्रावितं च यत्। लेख्यं सिध्यति सर्वत्र मृतेष्वपि हि साक्षिषु ॥ नारदस्मृति ४/१४०

[43] अदृष्टार्थमश्रुतार्थं व्यवहारार्थमागतम्। न लेख्यं सिद्धिमाप्नोति जीवत्स्वपि हि साक्षिषु ॥ नारदस्मृति ४/१४१

[44] अर्थक्रमः सम्बन्धपरिपूर्णता माधुर्यमौदार्यास्पष्ट्त्वमिति लेखसम्पत् ॥ अर्थशास्त्र २/१०/१

[45] शुक्रनीति ४/५/१८१–१८२

[46] मत्ताभियुक्तस्त्रीबाल– बलात्कारकृतं च यत्। तदप्रमाणं लिखितं भीतोपधिकृतं तथा ॥ नारदस्मृति ४/१३७

तद्बलात् कारितमप्रमाणम्। उपधिकृताश्च सर्व एव। दूषितकर्मदुष्टसाक्ष्यङ्कितं तत्ससाक्षिकमपि। तादृग्विधेन लिखितं च। स्त्रीबालाऽस्वतन्त्रमत्तोन्मत्तभीतताडितकृतं च। विष्णुधर्मसूत्र ७/६–११

मत्तेनोपाधिभीतेन तथोन्मत्तेन पीडितैः। स्त्रीभिर्बालाऽस्वतन्त्रैश्च कृतं लेख्यं न सिध्यति ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ३७०

मुमूरुषुहीनलुप्तार्थैरुन्मातव्यसनातुरैः। विषोपधिबलात्कार– कृतं लेख्यं न सिध्यति ॥ बृहस्पतिस्मृति व्यवहारकाण्ड ६/३०

अप्रगल्भेन च स्त्रिया बलात्कारेण यत् कृतम् । शुक्रनीति ४/५/१८२

[47] उन्मत्तजडबलानां राजभीतिप्रवासिनाम्। अप्रगल्भभयार्त्तानां न लेख्यं हानिमाप्नुयात् ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड, ६/५२

[48] मृताः स्युः साक्षिणो यत्र धनिकर्णिकलेखकाः। तदप्यपार्थं लिखितं न चेदाधिः स्थिराश्रयः ॥ नारदस्मृति ४/१३८

[49] अदृष्टार्थमश्रुतार्थं व्यवहारार्थमागतम्। न लेख्यं सिद्धिमाप्नोति जीवत्स्वपि हि साक्षिषु ॥ नारदस्मृति ४/१४१

[50] मृताः स्युः साक्षिणो यत्र धनिकर्णिकलेखकाः। तदप्यपार्थं लिखितमृते त्वाधेः स्थिराश्रयात् ॥ नारदस्मृति ४/१३८

[51] अकान्तिर्व्याघातः पुनरुक्तमपशब्दः सम्प्लव इति लेखदोषा ॥ अर्थशास्त्र २/१०/१

[52] दर्पणस्थं यथा बिम्बमसत्सदिव दृश्यते। तथा लेख्यस्य बिम्बानि कुर्वन्ति कुशला जनाः ॥ कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ.१४८

[53] पुरुषाः सन्ति ये लोभात्प्रब्रूयुः साक्ष्यमन्यथा। सन्ति चान्ये दुरात्मानः कूटलेख्यकृतो जनाः ॥

अतः परीक्ष्यमुभयमेंतद्राज्ञा विशेषतः । लेख्याचारेण लिखितं साक्ष्याचारेण साक्षिणः ॥ नारदस्मृति १/६०–६१

[54] लेख्यमालेख्यवत्के चिल्लिखन्ति कुशलाः नराः। तस्मान्न लेख्य सामर्थयात् सिद्धिरैकान्तिकी मता ॥ व्यास, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ.१४८

[55] संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः। युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/६२